International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

महात्मा गांधी के राजनीतिक विचारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

तिलकराज
शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
Email : tilakrajpolitical@gmail.com

शोध–आलेख सार : महात्मा गांधी पैगम्बर होने के साथ–साथ एक राजनीतिज्ञ भी थे। उनके लिए यह परिस्थिति बडी कष्टदायक थी कि राजनीति में मैक्यावलीय प्रवृत्ति की भी प्रधानता होनी चाहिए। जिसका मतलब होता है कि राजनीति धर्म रहित हो और छल छद्मयुक्त राजनीति में साम्राज्य की प्रमुखता हो । उन्होंनें इस प्रकार की कुटिल राजनीति को जो नैतिकता विहीन हो, किसी भी दशा में उचित नहीं माना। गांधी जी का विचार था कि राजनीति को नैतिकता व मानव कल्याण का साधन होना चाहिए। श्री विश्वनाथ के अनुसार गांधी जी का आग्रह था कि राजनीति का आधार धर्म होना चाहिए। उन्होंने उपयोगिता के इस प्रसिद्ध सिद्धांत को कभी स्वीकार नहीं किया कि धर्म व्यक्ति का निजी मामला हो और इसलिए उसका राजनीति से कोई संबंध नहीं होना चाहिए। हालांकि गांधी जी ने राजनीतिक दर्शन पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा, बल्कि समय–समय पर उनके जो विचार व्यक्त हुए और देश के स्वाधीनता संग्राम के समय के दौरान उनकी जो कार्य नीति रही और उन्होंनें अपने चिंतन और व्यवहार की जो व्याख्याएं दी, उन सभी से ही हमें महात्मा गांधी जी के राजनीतिक दर्शन का ज्ञान होता है।[1]

मुख्य–शब्द : पैगम्बर, नैतिकता, मानव कल्याण, उपयोगिता।

शोध–प्रविधिः इस शोध–पत्र के लिए शोध सामग्री अधिकांश रूप में द्वितीयक स्रोतों से ग्रहण की गई हैं। इसमें ऐतिहासिक विश्लेषण व वर्णनात्मक दृष्टिकोण के साथ–साथ शोधकर्त्ता ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों को भी स्थान दिया है। शोध सामग्री प्रसिद्ध पुस्तकों, पत्र–पत्रिकाओं व समाचार पत्रों से प्राप्त की गई हैं।

राजनीति तथा धर्म का संबंध

महात्मा गांधी जी ने राजनीति व धर्म के बीच अटूट संबंध स्थापित करने की कोशिश की। वे मानते थे कि धर्म मानव जीवन की धुरी है। वे राजनीति के बारे में भी ऐसे विचार व्यक्त करते थे कि राजनीति अपनी बुराईयों के बावजूद भी मनुष्य के लिए अनिवार्य है। गांधी जी ने राजनीति के बारे में कहा कि ''यदि आज मैं राजनीति मे हिस्सा लेता हुआ दिखाई देता हूं तो उसका एकमात्र कारण यही है कि राजनीति वर्तमान समय में हमें सांप की तरह चारों ओर से लपेटे हुए है। जिसके चंगुल से हम कितनी भी कोशिश क्यों न करें, निकल नहीं सकते। इसलिए गांधी जी ने उस सांप को बदलने की कोशिश की और कहा कि मैं इस सांप से द्वन्द्व युद्ध करना चाहता हूँ और इसलिए मैं राजनीति में धर्म को लाना चाहता हूँ''

महात्मा गांधी एक ऐसे कर्मयोगी थे जो नैतिकता के उस दोहरे मापदंड को मिटाना चाहते थे जो इस प्रकार व्यक्त किया जाता है कि राजनीति–राजनीति हो तथा व्यापार–व्यापार हो। वे इस दोहरे मापदंड को मिटाने के लिए ही राजनीति में धर्म का समावेश करना चाहते थे। उनकी मान्यता थी कि धर्म समाज के प्रत्येक पक्ष से संबंध रखता है। उनकी नजर में राजनीति धर्म और नैतिकता की एक

[1] डॉ० अमरेश्वर अवस्थी, 'आधुनिक भारतीय समाज सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन', रिसर्च पब्लिशर्स, 1977, पृ0–430

शाखा थी। इसलिए उन्होंने राजनीति को संपति तथा शक्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष ही नहीं माना। उन्होंने राजनीति के बारे में कहा कि यह तो लाखों पद–दलितों को सुन्दर जीवन यापन करने के योग्य बनाने, मानवीय गुणों का विकास करने, उन्हें स्वतंत्रता, बंधुता और सामाजिक समानता के बारे में प्रशिक्षित करने का निरन्तर प्रयास है। इस प्रकार एक राजनीतिज्ञ जो इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कर्म करता है वह धार्मिक हुए बिना नहीं रह सकता।[2]

गांधी जी का मानना था कि राजनीति में प्रवेश का अर्थ सत्य और न्याय की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होना है। उग्रवादी दल के नेता बाल गंगाधर तिलक ने कहा था कि ''राजनीति साधुओं का खेल नहीं है''। इस पर गांधी जी ने उत्तर दिया कि ''राजनीति साधुओं का और केवल साधुओं का कार्य है''। साधुओं से गांधीजी का अभिप्रायः केवल अच्छे व्यक्तियों से था। वे बिना धर्म के राजनीति को एक मुर्दा मानते थे, जिसको जला देने के सिवाय कोई उपयोग नहीं था। उनके अनुसार मानव क्रियाओं से अलग कोई धर्म नहीं है। स्वंय गांधी जी के शब्दों में ''मैं उस समय तक धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता, जब तक कि मैं स्वंय को संपूर्ण मानवता के साथ एकीकृत नहीं कर लेता और मैं यह उस समय तक नहीं कर सकता जब तक की राजनीति में भाग नहीं लेता''। इस प्रकार वे राजनीति को धर्म से अलग करने के कभी भी पक्षधर नहीं रहे।[3]

राज्य के विषय में गांधी जी के विचार

गांधी जी मार्क्सवादियों तथा अराजकतावादियों को समान ही राज्य विहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे। उनका मानना था कि राज्य की आवश्यकता इसीलिए पडती है क्योंकि मनुष्य अपूर्ण है, यदि मानव जीवन इतना पूर्ण हो जाए कि वह स्वयं संचालित हो सके तो फिर राज्य या राजकीय शक्ति की समाज को कोई आवश्यकता न रहे। उनके विचार में ऐसी स्थिति मानव की प्राकृतिक स्वंतत्रता की स्थिति होगी। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के हित साधना में बाधा न बनते हुए स्वयं अपना शासक बन जाएगा।[4]

गांधी जी टॉलस्टाय की भांति एक दार्शनिक अराजकतावादी थे। अतः वे राज्य का खण्डन करते थे। गांधी जी के अनुसार राज्य का आधार हिंसा है। उनका मानना था कि राजा का जन्म ही हिंसा द्वारा हुआ है। गांधी के अनुसार राज्य अंततोगत्वा अपनी इच्छा व्यक्तियों पर अपनी पुलिस, न्यायालय तथा सेना की शक्ति द्वारा थौंपता है। अपने आध्यात्मिक विकास के लिए व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता की आवश्यकता है जो कि राज्य द्वारा सीमित कर दी जाती है। गांधी जी मार्डन रिव्यू मे लिखते हैं ''व्यक्ति ही सर्वोपरि हैं। मैं तो राज्य शक्ति में वृद्धि को सबसे अधिक भय की दृष्टि से देखता हूँ क्योंकि वह शोषण को कम करके भलाई करते हुए दिखाई पडता है तथापि व्यक्तित्व का विनाश करके जो कि समस्त प्रगति का मूल है वह मानव जाति को सबसे बडी क्षति पहुंचाता है। व्यक्ति की एक आत्मा होती है। परन्तु राज्य एक आत्माहीन मशीन है। उसे हिंसा से कभी अलग नहीं किया जा सकता। जिसके कारण ही उसका जन्म हुआ हैं''।[5] इस प्रकार गांधी जी राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करते हुए राज्य के प्रभाव व शक्ति को अधिक से अधिक कम करने का परामर्श देते हैं। जिससे

---

[2] सी.एफ. एनडेवस, 'महात्मा गांधी उनकी अपनी कहानी', मद्रास प्रकाशन प्रैस, 1922, पृं0 सं0 354.
[3] उपरोक्त, पृं0 592.
[4] डॉ0 इकबाल नारायण–'भारतीय राजनीतिक विचारक'–ग्रंथ विकास प्रकाशन, जयपुर, 2001, पृं0 सं0 129,130.
[5] डॉ महेश प्रसाद सिंह, 'गांधी के सपनों का भारत', ज्ञान गंगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2010, पृं0 सं0 75–76.

राज्य सत्ता के होते हुए भी व्यक्ति वास्तविक रूप में स्वतंत्रता प्राप्त कर सकें। इसके लिए गांधी जी ने तीन सुझाव दिए है।

1. सत्ता का विकेन्द्रीकरण

गांधी जी केन्द्रीयकरण को गलत मानते थे क्योंकि उससे सारी शक्ति कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। जिससे फिर इन शक्तियों का दुरूपयोग होता है। अतः उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में जनता के विकेन्द्रीयकरण का सुझाव दिया दिया है। जिससे उनका अभिप्रायः था कि ग्राम पंचायत को अपने गांव का प्रबन्ध और प्रशासन करने के सब अधिकार दिए जाऐं।

2. राज्य का न्यूनतम कार्यक्षेत्र

राज्य सत्ता की बुराई को दूर करने के लिए गांधी जी का दूसरा सुझाव यह है कि राज्य सत्ता का कार्यक्षेत्र न्यूनतम होना चाहिए। गांधी जी हेनरी डी थोरो के इस विचार से सहमत थे कि वह सरकार अच्छी है जो कम से कम शासन करे। गांधी जी का मानना था कि स्वंय को अनुशासित करने के लिए सदैव पुरूषार्थवान रहकर परस्पर सहयोग करना चाहिए ताकि वे धीरे–धीरे स्वयं इतने अनुशासित हो जाऐं कि बिना किसी बाह्य दबाव के स्वेच्छापूर्वक अपना कर्त्तव्यपालन करते रहें।

3. राज्य के प्रभुत्व सिद्धान्त का खंडन

गांधी जी व्यक्ति व राज्य में व्यक्ति को साध्य व राज्य को साधन मानते थे। अतः वे राज्य के प्रभुत्व सिद्धान्त का खण्डन करते थे। वे हिगल या अन्य सर्वाधिकारवादियों की इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे कि व्यक्ति राज्य की प्रत्येक बात को माने। उनका मानना था कि राज्य जनता की भक्ति का हकदार तभी हो सकता है जबकि जनता के कल्याण का कार्य करें। गांधी जी विशुद्ध नैतिक सत्ता पर आधारित जनता की प्रभुसत्ता मे विश्वास रखते थे।[6]

गांधी जी ने लिखा है – ''राजभक्ति का कोई अपरिवर्तनशील सिद्धान्त नहीं है। वह तो एक पारस्परिक आदान–प्रदान है। अतः जैसे ही राज्य अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो जाता है। तभी वह जनता पर अन्याय व अत्याचार करने लगता है। वह ऐसे कानूनों का निर्माण करने लगता है जो व्यक्ति के अन्तःकरण के विरूद्ध हो। इस प्रकार राज्य जनता की भक्ति प्राप्त करने का अधिकार खो बैठता है। ऐसी स्थिति में जनता का अधिकार व कर्त्तव्य बन जाता है कि उसके द्वारा राजसत्ता का विरोध किया जाए''।[7]

आदर्श राज्य के संबंध में गांधी जी के विचार

महात्मा गांधी जी ने प्लेटो की तरह ही दो आदर्शों का वर्णन किया है। प्रथम–पूर्ण आदर्श जिसे वे राम राज्य कहते हैं तथा द्वितीय उप आदर्श जिसे वे अहिंसात्मक समाज कहकर पुकारते हैं। उनके

---

[6] उपरोक्त पृं0 सं0 77–78

[7] जे0 बी0 कृपलानी, 'गांधी जी का जीवन और विचार', नई दिल्ली पब्लिकेशन्स, 1951, पृ0 सं0 95.

पूर्ण आदर्श सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य के लिए कोई राज्य नहीं है। वे राज्यविहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे। परन्तु गांधी जी यथार्थवादी थे तथा उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि मानव स्वभाव की वर्तमान स्थिति को देखते हुए पूर्ण आदर्श की स्थापना सम्भव नहीं है। अतः गांधी जी के द्वारा व्यवहारिक दृष्टिकोण से उप–आदर्श की कल्पना की गयी।[8]

गांधी जी ने आदर्श अहिंसात्मक समाज व्यवस्था को रामराज्य कहकर संबोधित किया। परन्तु यहां राम राज्य शब्द का प्रयोग कुछ भ्रामक हो सकता है क्योंकि इसका शाब्दिक अर्थ है ''रामचन्द्र जी का राज्य'' हालांकि राजा रामचन्द्र के समय और आज की स्थिति में अवस्था और काल का एक लंबा भेद होने के कारण राम राज्य आज की स्थिति में व्यवहारिक नहीं हो सकता। गांधी जी भी इस बात से परिचित थे और उनके द्वारा रामराज्य शब्द का प्रयोग भावनावश आलंकारिक अर्थ में किया गया। दरअसल गांधी जी आदर्श राज्य व्यवस्था के लिए तीन शर्तें रखते हैं

1. जिसमें जनता का सर्वांगीण विकास हो।
2. जहाँ शासन अहिंसा और प्रेम पर चलता हो।
3. जहाँ एक वर्ग या देश दूसरे वर्ग या देश का शोषण नहीं करता हो।

गांधी जी अधिकार और कर्त्तव्यों की चर्चा करते हुए मानते हैं कि व्यक्ति के लिए अधिकार आवश्यक है। उनके अनुसार ''अपने कर्त्तव्यो को पूरा करने का अधिकार ही एकमात्र अधिकार'' है। जिसके लिए मनुष्य का जीवन धारण और भरण होता है। इसी के अन्तर्गत मनुष्य के सभी न्यायिक अधिकार निहित हैं।[9]

गांधी जी ने यद्यपि पूर्ण अहिंसात्मक और राज्यविहीन समाज की कल्पना की, परन्तु वे एक आदर्शवादी विचारक थे न कि स्वप्नलोक में विचरण करने वाले। वे वह जानते थे कि वास्तविक मानव जीवन में पूर्ण अराजकता की व्यवस्था स्थापित होना संभव नहीं है। उन्हें यह भी ज्ञात था कि आधुनिक समय में समाज के सभी सदस्यों से पूर्ण आदर्श नैतिकता को प्राप्त कर लेने की आशा करना अपर्याप्त है। गांधी जी का विश्वास था कि प्रजातंत्र अहिंसात्मक साधन द्वारा पूर्ति मात्र किया जा सकता है। परन्तु वे लोकतन्त्र की बहुमत की समस्या के प्रति जागरूक थे। उनका विचार था कि लोकतंत्रात्मक शासन को सकुशल चलाने के लिए बहुसंख्यकों की भांति अल्पसंख्यकों का सहयोग भी आवश्यक है क्योंकि बहुमत के द्वारा एक सच्ची श्रद्धा का निर्माण नहीं हो सकता। बहुमत द्वारा निर्मित सरकारों का दुष्प्रभाव व्याभिचार है। गांधी जी ने बताया कि सच्चे लोकतंत्र के अन्तर्गत बहुमत में आलोचना सहन करने की क्षमता होनी चाहिए तथा अल्पसंख्यक वर्ग को भी बहुमत की उचित बातें मान लेनी चाहिए।[10]

गांधी जी के शब्दों में ''राज्य केन्द्रित व संगठित रूप से हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति एक सचेतन व आत्मावान प्राणी है। परन्तु राज्य एक ऐसा आत्मारहित यन्त्र है जिसे हिंसा से अलग नहीं किया जा सकता। क्योंकि इसका जन्म ही हिंसा से हुआ है। गांधी जी एक सिद्धान्त के रूप में राज्य के अस्तित्व के विरूद्ध होते हुए भी वर्तमान परिस्थितियों में इसके (राज्य को) समाप्त करने के पक्ष में नही थे। उनका मानना था कि वर्तमान समय में व्यक्ति का जीवन इतना पूर्ण नहीं है कि वह उनके द्वारा

---

[8] डॉ0 बी0 एल0 फाडिया, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन', साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ0 सं0 203

[9] डॉ0 महेश प्रसाद सिंह, 'गांधी के सपनों का भारत', ज्ञान गंगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2010, पृं0 सं0 79.

[10] गोपीनाथ धवन, 'सर्वोदय तत्व दर्शन', अहमदाबाद प्रकाशन–1957, पृं0 सं0 74.

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

स्वंय संचालित हो सके। लिहाजा गांधी जी समाज में राज्य व राजनीतिक शक्ति की आवश्यकता महसूस करते थे। परन्तु इसके साथ–साथ उनका मानना था कि राज्य का कार्यक्षेत्र न्यूनतम होना चाहिए। अतः गांधी जी के राज्य संबंधी विचारों को सैद्धांतिक दृष्टि से अराजकतावादी व व्यवहार में व्यक्तिवादी कहा जा सकता है। परन्तु यहां गांधी जी न तो क्रोपटमिन और वामुनिन की तरह हिंसा के आधार पर राज्य को समाप्त करने के पक्ष में थे और न ही उनका व्यक्तिवाद वह पाश्चात्य व्यक्तिवाद रहा है जिसका परिणाम आगे चलकर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना होता है।

इस प्रकार गांधी जी ने राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करते हुए उसके प्रभाव व शक्ति को कम से कम करने की कोशिश की है। जिससे सत्ता के होते हुए भी व्यक्ति अपनी वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त कर सके।[11]

राजनीतिक विकेन्द्रकरण

गांधी जी सत्ता के विकेन्द्रीकरण में विश्वास रखते थे। उन्हें सत्ता में बैठे कुछ गिने चुने व्यक्तियों के द्वारा शासन का केन्द्रीयकरण मान्य नहीं था। शासन के संबंध में उसकी एक इच्छा थी कि गांव के प्रत्येक व्यक्ति की शासन में भागीदारी होनी चाहिए। तभी उन्होंने एक विश्वास के साथ कहा कि ''सच्चे लोकतंत्र का संचालन केन्द्र में बैठे हुए 20 आदमियों से नहीं हो सकता। उनका संचालन नीचे से गांव के प्रत्येक व्यक्ति द्वारा होगा। प्रजातंत्र में जो स्थान शहर की अट्टालिकाओं में रहने वालों का होगा वही स्थान गांव के किसान का भी होना चाहिए। क्योकि प्रजातंत्र में दोनों व्यक्ति शासन में समान रूप से भागीदारी होगे।'' गांधी जी ने इसी भावना को व्यक्त करते हुए कहा है कि ''सच्चे लोकतंत्र में हमारे यहाँ किसानों का राज्य होना चाहिए।'' गांधी जी कहते हैं कि ''शक्ति का केन्द्र अभी दिल्ली या मुम्बई जैसे बडे शहरों में है मैंनें इसे सात लाख गांवों में बांट दिया''।[12]

इस प्रकार गांधी जी के राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का स्वप्न गरीबों के स्वराज्य से हैं उन्हें भी जीवन की आवश्यकता वस्तुऐं उसी प्रकार प्राप्त होनी चाहिए जैसे वे धनिकों व राजाओं को प्राप्त होती हैं। लेकिन उसका तात्पर्य यह नहीं हैं कि उसके लिए राजाओं जैसे महल होने चाहिए। सुखी जीवन के लिए महल आवश्यक नहीं होते। परन्तु जीवन की साधारण सुविधाएं धनिकों की भांति सबको सुलभ होनी चाहिए।[13]

संसदीय व्यवस्था पर विचार

गांधी जी किसी भी संसदीय व्यवस्था को अच्छा नहीं मानते थे। वे ब्रिटिश राजनीतिक जीवन के घोर आलोचक रहे हैं। उन्होंने ब्रिटिश संसद की तुलना एक बांझ महिला अथवा वेश्या से की थी, क्योंकि उनका मानना था कि संसद से आज तक अपनी तरफ से कोई अच्छा कार्य नहीं किया और जो कुछ भी किया है यह बाहरी दबाव से प्रभावित होकर किया है। अतः वह बांझ जैसी है तथा उन्होंने इसको एक वेश्या जैसी इसीलिए बताय है क्योंकि वह मंत्रियों द्वारा संगठित है जो समय–समय पर बदलते रहते हैं।

गांधी जी द्वारा रचित हिन्द स्वराज्य उनकी संसद विरोधी मान्यताओं से भरा पडा है। उन्होंने संसदात्मक ढांचें में अखबारों की भी निंदा की है। उन्होंने अखबारों को लोगों को गुमराह करने का माध्यम बताया है। इस प्रकार गांधी जी जे. एस. मिल की तरह प्रतिनिधि प्रजातंत्र को स्वीकार तो करते हैं परन्तु उसमें बहुत से दोष पाते हैं। जिन्हें वे संशोधित करना चाहते थे। उनका मानना था कि इसका

---

[11] 'यंग इंडिया', 2 जुलाई 1931, पृ0 सं0 162.
[12] डॉ0 विश्वामित्र पाण्डेय, 'महात्मा गांधी, डॉ0 राममनोहर लोहिया और पं0 दीनदयाल उपाध्याय के समाजवादी विचार', निर्मल पब्लिकेशन्स, 2012, नई दिल्ली, पृ0 सं0 23.
[13] डॉ इकबाल नारायण, 'भारतीय राजनैतिक विचारक', ग्रंथ विकास पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2001, पृ0 सं0 132.

कोई वास्तविक स्वामी नहीं होता। यह बदलते हुए प्रधानमंत्रियों के नियंत्रण में रहती है। जो कल्याण की अपेक्षा सदैव शक्ति से संबंध रखती है।[14]

प्रतिनिधि लोकतंत्र व मताधिकार

महात्मा गांधी निर्वाचन और प्रतिनिधित्व के विरोधी नहीं थे। परन्तु इनके प्रचलित स्वरूप से उन्हें कोई आकर्षण नहीं था। गांधी जी यह नहीं चाहते थे कि कोई उम्मीदवार मतदाताओं से प्रार्थना करके मतदाताओं से मत मांगे। बल्कि उम्मीदवार ही मतदाताओं की सेवा करके उनसे मत प्राप्त करे। गांधी जी ने कहा था कि यदि उन्हें अपने विवके के अनुसार संविधान बनाने की स्वतंत्रता होती तो राज्य का शासन उन थोडे से प्रतिनिधियों के हाथ में होती जिनको जनता चुनती और हटा सकती। उनका स्पष्ट मानना था कि चुनाव में उम्मीदवार वहीं से बनता है जो स्वार्थहीन होकर समाज सेवा की भावना से प्रेरित होकर चुनाव लडना चाहते हैं। उनका कहना था कि यदि व्यक्ति अपने साधारण जीवन में 25 रू प्रतिमाह से संतुष्ट रहता है तो उसे एक मंत्री बन जाने पर 250 रू पाने का अधिकार नहीं हैं। वे श्रमिक मताधिकार के पक्ष में थे।[15]

गांधी जी मताधिकार के अन्तर्गत मतदाता की उम्र को भी महत्व देते हैं। वे मताधिकार के लिए उम्र 18 वर्ष से 50 साल के बीच निर्धारित करते हैं। उनका मानना था कि ऐसे लोग अपने शारीरिक श्रम से देश की सेवा कर सकते हैं। वे मानते थे कि 50 वर्ष के ऊपर के लोग केवल नैतिक प्रभाव ही रख सकते हैं। उनके पास मताधिकार की राजनीतिक शक्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार गांधी जी का श्रम संबंधी मताधिकार का सिद्धान्त रोटी के लिए श्रम से संबंधित है जो कि व्यक्ति को आत्मनिर्भर एंव संतुष्ट बनाता है।[16]

इस प्रकार गांधी जी प्रजातांत्रिक व्यवस्था में सभी प्रकार की जातियों, धर्मों, लिंग, रंग आदि के लिए समानता व न्याय के समर्थक थे। इस प्रजातांत्रिक व्यवस्था में गांधी जी ने किसानों को अधिक महत्व देते हुए कहा था कि ''लोकतांत्रिक स्वराज्य में किसानों के पास राजनीतिक सत्ता के साथ–साथ हर किस्म की सत्ता होनी चाहिए''। उनके अनुसार किसानों को उनकी योग्य स्थिति मिलनी ही चाहिए और देश में उनकी आवाज ही सबसे ऊपर होनी चाहिए। इस प्रकार गांधी जी ऐसे समतावादी समाज के पक्ष में थे जिसमें नेता तथा जनता एक ही धरातल पर संयम एवं सादगी से जनसेवा का कार्य करे। उन्होंने लोकतंत्र को मिलावट विहिन अहिंसा का शासन माना जिसमें सत्याग्रह व अहिंसा द्वारा लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा की जा सके।[17]

अर्थव्यवस्था का विकेन्द्रीकरण

---

[14] डॉ0 महेश प्रसाद सिंह, 'गांधी के सपनों का भारत', ज्ञान गंगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2010, पृं0 सं0 84–85.

[15] डॉ अवस्थी अमरेश्वर, 'आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन', रिसर्च पब्लिकेशन्स, 1977, पृं0 सं0 446.

[16] डॉ0 महेश प्रसाद सिंह, 'गांधी के सपनों का भारत', ज्ञान गंगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2010, पृं0 सं0 86.

.

[17] डॉ0 अरूण भारद्वाज, डॉ0 शिप्रा भारद्वाज, 'भारतीय लोकतंत्र के विकास में गांधी एवं नेहरू का योगदान', आ.बी.एस.ए. पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2013, पृं0 सं0 63.

गांधी जी पूंजीवाद के दोषों से बचने के लिए सबसे अच्छा उपाय आर्थिक विकेन्द्रीयकरण को बताते हैं। क्योंकि इससे गांवों की जनता को अधिक लाभ होगा। आर्थिक क्षेत्र में प्रत्येक गांव एक आर्थिक ईकाई के रूप में कार्य करेगा और प्रत्येक ईकाई अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुओं का उत्पादन कर सकेगी। अतः गांधी जी कुटीर उद्योगों के पक्ष में थे। उनका मानना था कि बडे–बडे उद्योगों से पूंजीपतियों को ही लाभ होता है और वे ही अमीर होते जाते हैं। इन उद्योगों में प्रयोग हाने वाला कच्चा माल साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद को जन्म देता है। अतः गांधी जी स्वदेशी खद्दर के पक्ष में थे। इसीलिए वे विशाल व केन्द्रीकृत उद्योगों को समाप्त करके कुटीर उद्योगों को चलाने के पक्ष में थे। इस प्रकार उनका मानना था कि इस तरह से आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा व शोषण का अन्त हो जाएगा।

धर्म निरपेक्ष राज्य का विचार

गांधी जी अपने अहिंसक राज्य को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य मानते थे। उनका मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का सफलतापूर्वक पालन करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। उन्होंने कहा था कि यदि मैं तानाशाही होता तो धर्म और राज्य एक दूसरे से अलग होते। मैं अपने धर्म के नाम पर प्रतिज्ञाएँ लेता हूँ। मैं उसके लिए अपने प्राण तक दे सकता हूँ। लेकिन वह मेरा एक निजी मामला है। राज्य का इससे कोई संबंध नहीं हैं। वह सबका अपना एक निजी मामला है।

उनका यह भी मानना था कि धार्मिक शिक्षा राज्य का विषय नहीं होना चाहिए। वे राज्य को एक साधन मानते थे, साध्य नहीं। इसीलिए वे राज्य को उद्देश्य सबका हित करना मानते थे।[18]

स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार

गांधी जी नैतिक व आध्यात्मिक स्वतंत्रता के साथ–साथ राजनीतिक स्वतंत्रता के भी गहरे भक्त थे। वे स्वराज्य को सत्य का ही अंग मानते थे और सत्य को ईश्वर का। अतः वे स्वतन्त्रता को एक पवित्र वस्तु मानते थे। उनका मानना था कि राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थात स्वराज्य तीव्र संघर्ष व कष्ट सहन के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। यह एक भेंट के रूप मे मिल जाएगी यह सोचना निराधार होगा। उन्होंने ''राज्य भक्ति में हस्तक्षेप'' नामक एक लेखक लिखा। जिसमें उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार के प्रति असन्तोष भडकाना हम भारतवासियों का धर्म बनता है तथा उन्होंने गहरी मनोवैज्ञानिक सूझ के साथ साम्राज्यवादी देशों के चेतावनी दी कि दूसरों पर आधिपत्य जमाए रखने से बडे राष्ट्रों का नैतिक चरित्र जोखिम में पड जाएगा। उन्होंने तिलक द्वारा दिए गए इस तंत्र को भी स्वीकार किया कि स्वतंत्रता भारतवासियों का जन्मसिद्ध अधिकार है। गांधी जी ने एक बार कहा था कि ''मेरी निगाह में लोकमत की अवज्ञा करने वाला हर शासक विदेशी है।'' उनका कहना था कि भारतवासी स्वतंत्रता के हकदार इसीलिए है क्योंकि इसके लिए उन्होंने अगणित कष्ट भोगें हैं। उनके अनुसार स्वराज्य का अर्थ था, करोडों दलित तथा भूखे करने वाले लोगों के हितों का समर्थन करना। उन्होंनें राष्ट्रीय स्वाधीनता के अर्थ में भी स्वतंत्रता का बलपूर्वक समर्थन किया। उन्होंने साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था के बारे में कहा कि ''मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि कोई राष्ट्र बाहर से थोपी गयी सरकार के द्वारा अपने

[18] डॉ0 महेश प्रसाद सिंह, 'गांधी के सपनों का भारत', ज्ञान गंगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2010, पृं0 सं0 87.

को उचित ढंग से शासित कर सकता है। उदाहरण के तौर पर पुरानी कहानी का कौआ अपने सुन्दर साथी मोर के पंख लगाकर भी मोर की तरह चलने में असमर्थ रहा है''।[19]

अधिकार एवं कर्त्तव्य

गांधी जी अधिकारों को सभी व्यक्तियों के हित में मानते थे। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को प्राप्त उनका नेतृत्व मुख्य रूप से राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए ही था। गांधी जी अधिकारों को कर्त्तव्यों के बिना अधूरा मानते थे और कर्त्तव्यों से पूर्व अधिकारों का कोई महत्व नहीं मानते थे। उनके अनुसार नागरिकता के अधिकार केवल उन्हीं को मिल सकते हैं जो इस राज्य (अहिंसा पर आधारित स्वराज्य) में रहकर उसकी सेवा करते हों। गांधी जी ने कहा कि जो अपने कर्त्तव्यों का उचित पालन करता है उसे अधिकार अपने आप मिल जाते हैं। उनके अनुसार मुनष्य का कोई भी अधिकार अबाधित या पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कहा कि ''हमारे जीवित रहने का अधिकार भी तभी तक हमें प्राप्त होता है जबकि हम विश्व नागरिकता के अपने कर्त्तव्य पूर्ण करते हैं।[20]''

इस प्रकार गांधी जी के अनुसार न्याय शीघ्र व सस्ता होना चाहिए तथा पंचायत को न्याय का अधिकार होना चाहिए। वे न्यायाधीश के अनुसार व वकीलों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए कहते थे कि ''वकील तथा जज चचेरे भाई होते हैं। वकील तो आमतौर पर झगडों को दबाने की बजाय बढाने की सलाह देते हैं। इनका स्वार्थ तो झगडों की वृद्धि में ही है।''[21]

[19] डॉ0 वी0 पी0 वर्मा, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन', लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा, 1957, पृं0 सं0 265.

[20] डॉ0 वीरेन्द्र शर्मा, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधाराऐं', श्री पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1994, पृं0 सं0 386–87.

[21] उपरोक्त, पृं0 सं0 85.